कारणवाद

जितेन्द्र शाह

विश्व सृजन का कोई कारण होना चाहिए, इस विषय की चर्चा वैदिक परंपरा में विविध रूपों में हुई है । किन्तु विश्ववैचित्र्य एवं जीवसृष्टिवैचित्र्य का कारण कौन है ? इसका विचार भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ **ऋग्वेद** (प्रायः ई. पू. १५००) में उपलब्ध नहीं होता है । इस विषय में सर्वप्रथम उल्लेख **श्वेताश्वतर उपनिषद्** (ईसा पूर्व कहीं) में प्राप्त होता है । प्रस्तुत उपनिषद् में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष इनमें से किसी एक को कारण मानना या इन सबके समुदाय को कारण मानना चाहिए, ऐसा प्रश्न उपस्थित किया गया है[१] । इससे ज्ञात होता है कि उस युग में चिंतक जगत्वैचित्र्य के कारणों की खोज में लग गए थें एवं इसके आधार पर विश्ववैचित्र्य का विविध रूपेण समाधान करते थें । इन वादो में कालवाद का सबसे प्राचीन होने का प्रमाण प्राप्त होता है । **अथर्ववेद** (प्रायः ई. पू. ५००) में काल का महत्त्व स्थापित करने वाला कालसूक्त है जो इस बात की पुष्टि करता है[२] ।

कालवाद :

अथर्ववेद में कहा गया है कि काल से ही पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है, काल के कारण ही सूर्य तपता है, समस्त भूतों का आधार काल ही है । काल के कारण ही आँखें देखती है और काल ही ईश्वर है और प्रजापति का पिता भी काल ही है[३] । इस प्रकार **अथर्ववेद** का उक्त वर्णन काल को ही सृष्टि का मूल कारण मानने की ओर है; किन्तु **महाभारत** (प्रायः ई. पू. १५०-ईस्वी ४००) में तो उससे भी आगे समस्त जीव सृष्टि के सुख-दुःख, जीवन-मरण इन सबका आधार भी काल को ही माना गया है । कर्म से, चिंता से या प्रयोग करने से कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती, किन्तु काल से ही समस्त वस्तुएँ प्राप्त होती हैं । सब कार्यों के प्रति काल ही कारण है[४] । योग्य काल में ही कलाकृति, औषध, मन्त्र आदि फलदायक बनते हैं[५] । काल के आधार पर ही वायु चलती है, पुष्प खिलते है, वृक्ष फल युक्त बनते है, कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष, चन्द्र की वृद्धि और हानि आदि काल के प्रभाव से ही होती है । किसी की मृत्यु भी काल होने पर ही होती है और बाल्यावस्था, युवावस्था या वृद्धावस्था भी काल के कारण ही आती है[६] ।

गर्भ का जन्म उचित काल के अभाव में नहीं होता है । जो लोग गर्भ को स्त्री-पुरुष के संयोग आदि से जन्म मानते है, उनके मत में भी उचित काल के उपस्थित होने पर ही गर्भ का जन्म होता है । गर्भ के जन्म में गर्भ की परिणत अवस्था ही कारण है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदा-कदा अपरिणत गर्भ का भी जन्म देखा जाता है[७] । शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु एवं वर्षाऋतु आदि काल का आगमन भी उचित काल के अभाव में नहीं होता है। अतः उपाधिभूत कालों के प्रति भी काल ही कारण है । स्वर्ग या नरक भी काल के बिना नहीं होता, कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में जो भी कार्य होता है, उसमें से कोई भी कार्य उचित काल के अभाव में नहीं होता । अतः काल ही सबका कारण है । काल से भिन्न पदार्थ भी कार्य का कारण होता है यह असत्य है क्योंकि काल से अन्य पदार्थ अन्यथा सिद्ध हो जाते हैं[८] ।

काल उत्पन्न पदार्थों का पाक करता है अर्थात् उत्पन्न हो जाने पर वस्तु का जो संवर्धन होता है वह काल से ही होता है । वही अनुकूल नूतन पर्यायों को उपस्थित कर उनके योग से उत्पन्न वस्तु को उपचित करता है । काल उत्पन्न वस्तु का संहार करता है । अन्य कारणों को अर्थात् कारण माने जाने वाले अन्य पदार्थो के सुप्त अर्थात् निद्रापन्न रहने पर काल ही कार्यो के संबंध में जागृत रहता है, अर्थात् कार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आधार पर ही उत्पादानार्थ सव्यापार होता है । इसलिए सृष्टि, स्थिति और प्रलय के हेतु भूत काल का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता[९] । स्थाली और मूंग तथा अग्नि आदि सामग्री रहेने पर भी जब तक कारणभूत काल उपस्थित नहीं होता तब तक पाक नहीं होता है[१०] । यदि यह कहा जाए कि मूंग का परिपाक संपन्न होने से पूर्व विलक्षण अग्नि संयोग का अभाव रहेता है और इसी कारण मूंग का पाक नहीं होता है, अतः मूंग के पाक के प्रति काल के विशेष को कारण मानना निरर्थक है । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि संयोग के प्रति भी प्रश्न हो सकता है कि वह संयोग पहले ही क्यों नहीं हो जाता ? इसका उत्तर काल द्वारा ही दिया जा सकता है । अतः काल को ही असाधारण कारण अर्थात् एकमात्र कारण मानना पड़ेगा ।

काल को यदि कार्य मात्र के प्रति असाधारण कारण न माना जाएगा तो गर्भ आदि सभी कार्यों की उत्पत्ति अव्यवस्थित हो जाएगी[११] । यदि किसी अन्य हेतुवादी की दृष्टि गर्भ का हेतु माता-पिता आदि हैं, यह माना जाए तो प्रश्न होगा कि उनका सन्निधान होने पर तत्काल ही गर्भ का जन्म क्यों नहीं हो जाता है । मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** (प्रायः ईस्वी ५५०-५७५) में कालवाद की प्रतिस्थापना करते हुए **वैशेषिकसूत्र** (ईस्वी आरंभकाल) का निम्न सूत्र प्रस्तुत किया गया है[१२] ।

अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ।

यह इससे पूर्व है यह इसके पश्चात् है ये दोनों एकसाथ है । इस प्रकार का ज्ञान एवं नवीन और प्राचीन का जो ज्ञान होता है उसका हेतु काल को समझना चाहिए । जैसे वायु गुण वाला होने से द्रव्य है ऐसे ही काल भी गुणवाला होने से द्रव्य है । जैसे अन्य द्रव्य से उत्पन्न न होने से नित्य है इसी प्रकार काल भी अन्य द्रव्य से उत्पन्न न होने से नित्य है । काल एक है । वर्तमान, भूतादि काल का विभाजन कार्य होने से होते है अतः वह भेद गौण है ।

जैन-दर्शन में **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** ई॰ तीसरी-चौथी शती में काल के निम्न लक्षण प्रतिपादित किए गए हैं[१३] ।

वर्तना परिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥ ५

परिवर्तन, परिणमन, क्रियाः, परत्व, अपरत्व ये काल के लक्षण है ।

उमास्वाति द्वारा प्रस्तुत ये लक्षण वैसे तो **वैशेषिकसूत्र** में प्रस्तुत लक्षण से साम्यता रखते है फिर भी, इसमें परिवर्तन को भी काल पर आधारित किया गया है ।

द्वादशारनयचक्र में कालवाद का विभाव को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि किसी भी पदार्थ का यौगपद्य समकालीनता या अयौगपद्य का कथन काल के बिना संभव नहीं है[१४] । यथा घट और उसका रूप युगपत् उत्पन्न होता है ऐसा कहना काल के प्रत्यय के अभाव में संभव नहीं है । उसी प्रकार पदार्थो के अयुगपद् भाव की चर्चा भी काल के बिना संभव नहीं है । इसी प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रति पुरुषार्थ भी काल पर आधारित है । कहा भी गया है कि वसंत में ब्राह्मण को यज्ञ, वणिक को मद्य, समर्थ को क्रीडा ओर मुनियों को निष्क्रमण करना चाहिए[१५] । समग्र सृष्टि के सजीव और निर्जीव पदार्थों की अनन्त पर्यायों का परिणमन कराने वाला काल ही है और यह काल अपने सामान्य स्वरूप को छोड़े बिना ही भूत, भविष्य और वर्तमान को प्राप्त होता है । इस प्रकार काल एक होकर भी अपने तीन भेदों से भिन्न भी है । यदि ऐसा न माना जाए तब तो वस्तु में विपरिणमन ही शक्य नहीं हो पाएगा और काल ही एक ऐसा कारण है जो कार्य कारण के रूपमें विपरिणमन करने में समर्थ है । यह विपरिणमन परिवर्तन के सामर्थ्य काल के अभाव में पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति में भी संभव नहीं है[१६] ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालक्रम से ही पुरुष आत्मलाभ प्राप्त कर सकता है और जब तक काल परिपक्व नहीं होता तब तक मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती । संसार की अनादि अनन्तता काल के द्वारा ही सिद्ध हो सकती है । क्रिया और जीव के कर्मबंधादि क्रिया भी काल के कारण संभव है । समय मुहूर्तादि भी काल के ही कारण संभव है । अन्त में यह कहा गया है कि काल ही भूतों को पक्व करता है, काल ही प्रजा का संहरण करता है । काल ही सोए हुए को जगाता है । अतः काल दुरतिक्रम है[१७] ।

काल ही पदार्थो की उत्पत्ति करता है, उत्पन्न पदार्थो का पाक करता है अर्थात् उत्पन्न पदार्थ का संवर्धन काल से ही होता है । वही अनुकुल नूतन पर्यायों को उपस्थित कर उनके योग से उत्पन्न वस्तु को उपचित करता है । काल ही उत्पन्न वस्तुओं का संहार करता है अर्थात् वस्तु में विद्यमान पर्यायों के विरोधी नवीन पर्याय का उत्पादन काल के कारण ही होता है और इस प्रकार पूर्व पर्याय का नाश संहार भी काल के कारण होता है । अन्य कारणों के सुप्त-निर्व्यापार रहने पर काल ही कार्यों के सम्बन्ध में जागृत रहता है । अतः यह कह सकते हैं कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय के हेतुभूत काल का अतिक्रमण करना कठिन है[१८] ।

खंडन :- **द्वादशारनयचक्र** में कालवाद का खंडन संक्षेप में ही किया गया है । स्वभाववाद के उपस्थापन में कालवाद का खंडन करते हुए यह कहा गया है कि

१. वस्तु अपने स्वभाव के ही कारण उस रूप में होता है[१९] ।

२. काल को ही एक मात्र तत्त्व मानने पर तो कार्य कारण का विभाग संभावित नहीं हो सकेगा[२०] ।

३. इसी प्रकार काल ही को एकमात्र तत्त्व मानने पर सामान्य एवं विशेष का व्यवहार भी संभावित नहीं हो सकता[२१] ।

४. यदि ऐसा मान लिया जाए कि काल का ऐसा स्वभाव है तब तो स्वभाववाद का ही आश्रय लेना पड़ेगा[२२] ।

५. यदि आप काल को व्यवहार पर आश्रित करेंगे तो भी दोष आएगा क्योंकि इससे काल की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहेगी । पुनः पूर्व, अपर आदि व्यवहार का दोष होने पर लब्ध काल का भी अभाव हो जाएगा और इस प्रकार काल को आधार मानकर जो बात सिद्ध की गई है वे सब निरर्थक हो जाएगीं[२३] ।

द्वादशारनयचक्र के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ-दर्शन के अनेक ग्रंथों में भी कालवाद का खंडन किया गया है । यदि काल का अर्थ समय माना जाए अथवा काल को प्रमाणसिद्ध द्रव्य का पर्याय मात्र माना जाए अथवा काल को द्रव्य की उपाधि माना जाए या इसे स्वतंत्र पदार्थ के रुप में माना जाए । किसी भी स्थितिमें एकमात्र उसको ही कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि कारणान्तर के अभावमें केवल काल से किसी की भी उत्पत्ति नहीं होती और यदि एकमात्र काल से भी कार्य की उत्पत्ति संभव होगी तो एक कार्य की उत्पत्ति के समय अन्य सभी कार्यो की भी उत्पत्ति की आपत्ति होगी[२४] ।

यदि केवल काल ही घटादि कार्यो का जनक माना जाएगा तो घट की उत्पत्ति मात्र मृद में ही न होकर तन्तु आदि में भी संभव होगी क्योंकि इस मत में कार्य की देशवृत्तिता का नियामक अन्य कोई नहीं है और यदि देश वृत्तिता ते नियमनार्थ तत्काल में तत्तत् देश को भी कारण मान लिया जाएगा तो कालवाद का परित्याग हो जाएगा[२५] ।

इस प्रकार कालवाद की स्थापना एवं खंडन किया गया है । निष्कर्ष यह है कि केवल कालवाद ही एकमात्र सम्यग् है यह मानने पर दोष आएगा । अतः काल को ही एकमात्र कारण मानना युक्ति संगत नहीं है । काल एक कारण हो सकता और उसके साथ-साथ अन्य कारणों की भी संभावना का निषेध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कर सकते है ।

स्वभाववाद :

पूर्वोक्त कालवाद की तरह ही स्वभाववाद का मानना है कि जगत् की विविधता का कारण स्वभाव ही है[२६] । स्वभावतः ही वस्तु की उत्पत्ति एवं नाश होता है । पदार्थों में भिन्नता या समानता का कारण भी स्वभाव है यथा- अग्नि की उष्णता और जल की शीतलता स्वभावगत ही है । आम की गुठली से आम और बेर की गुठली से बेर ही उत्पन्न होगा क्योंकि उनका स्वभाव ऐसा ही है । भारतीय दर्शन परम्परा के प्राचीन ग्रंथो में भी स्वभाववाद का विवेचन प्राप्त होता है । उपनिषदो में स्वभाववाद का उल्लेख मिलता ही है[२७] । स्वभाववादी के अनुसार विश्व में जो कुछ होता है वह स्वभावतः ही होता है । स्वभाव के अतिरिक्त कर्म, ईश्वर या अन्य कोई कारण नहीं है ।

अश्वघोषकृत **बुद्धचरित** (ईस्वी दूसरी शती) में स्वभाववाद की अवधारणा को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि काँटे की तीक्ष्णता, मृग एवं पक्षियों की विचित्रता, ईख में मार्धुय, नीम में कटुता का कोई कर्त्ता नहीं है, वे स्वभावतः ही है[२८] । इसी प्रकार स्वभाववाद की चर्चा गुणरत्नकृत **षड्दर्शनसमुच्चयवृत्ति**[२९] में तथा आचार्य नेमिचंद्रकृत **गोम्मटसार**[३०] (ईस्वी १०वीं शती अंतिमचरण) में भी मिलती है । **महाभारत** में भी स्वभाववाद का वर्णन प्राप्त होता है[३१] । तदनुसार शुभाशुभ प्रवृत्तियों का प्रेरक स्वभाव हैं । सभी कुछ स्वभाव से निर्धारित है । व्यक्ति अपने प्रयत्न या पुरुषार्थ से उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता । सभी तरह के भाव और अभाव स्वभाव से प्रवर्तित एवं निवर्तित होते हैं। पुरुष के प्रयत्न से कुछ नहीं होता । गीता में कहा गया है कि लोक का प्रवर्तन स्वभाव से ही हो रहा है[३२] । इसी प्रकार **माठरवृत्ति** (ईस्वी चौथी शती), उदयनाचार्य कृत **न्यायकुसुमांजलि** (प्रायः १२वीं शती) एवं अज्ञात कर्तृक **सांख्यवृत्ति** (प्राक् मध्यकालीन ?)में भी स्वभाववाद के उल्लेख प्राप्त होते है[३३] ।

हरिभद्रकृत **शास्त्रवार्तासमुच्चय** (प्रायः ईस्वी ७७०-७८०) में स्वभाववाद की अवधारणा को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि प्राणी का मातृगर्भ में प्रवेश करना, बाल्यावस्था प्राप्त करना सुखद-दुःखद अनुभवों का भोग करना इनमें कोई भी घटना स्वभाव के बिना नहीं घट सकती । स्वभाव ही सब घटनाओं का कारण है । जगत् की सभी वस्तुएँ स्वतः ही अपने-अपने स्वरूप में उस उस प्रकार से वर्तमान रहेती है तथा अन्त में नष्ट हो जाती है जैसे पकने के स्वभाव से युक्त हुए बिना मूंग भी नहीं पकती भले ही कालादि सभी कारण सामग्री उपस्थित क्यों न हो । जिसमें पकने का स्वभाव ही नहीं है वह मूंग का कुटका कभी नहीं पकता तथा विशेष स्वभाव के अभाव में भी कार्य विशेष की उत्पत्ति यदि संभव मानी जाए तो अवाञ्छनीय परिणाम का सामना करना पड़ेगा । यथा मिट्टी में यदि घड़ा बनाने का स्वभाव है किन्तु कपड़ा बनाने का स्वभाव नहीं है ऐसा मानने पर मिट्टी से कपड़ा बनने की आपत्ति भी आ पड़ेगी[३४] । यही वर्णन नेमिचन्द्रकृत **प्रवचनसारोद्धार** (प्रायः १२वीं शती) एवं उसकी **वृत्ति** में भी प्राप्त होता है ।

स्वभाववाद की समीक्षा :

स्वभाववाद की समीक्षा इस प्रकार की गई है कि स्वभाव का अर्थ क्या है ? स्वभाव वस्तु विशेष है ? या अकारणता ही स्वभाव है ? या वस्तु के धर्म को ही स्वभाव माना जाता है ।

१. स्वभाव को ही वस्तु विशेष माना जाए ऐसा कहने पर यह आपत्ति आती है कि वस्तु विशेषरूप स्वभाव को सिद्ध करनेवाला कोई भी साधक प्रमाण के बिना ही स्वभाव का अस्तित्व मानने पर अन्य पदार्थों का अस्तित्व भी स्वीकार करना पड़ेगा[३५] ।

२. स्वभाव मूर्त है या अमूर्त । यदि मूर्त मान लिया जाए तब तो कर्म का ही दूसरा नाम होगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और यदि अमूर्त मान लिया जाए तब तो वह किसी का कर्त्ता नहीं बन सकता। यथा आकाश[३६]। आकाश अमूर्त है अतः वह किसी का कारण नहीं बन सकता।

३. अमूर्त स्वभाव को शरीरादि मूर्त पदार्थों का कारण नहीं मान सकते क्योंकि मूर्त पदार्थ का कारण मूर्त ही होना चाहिए। अमूर्त से मूर्त की उत्पत्ति संभवित नहीं हो सकती[३७]।

४. स्वभाव को अकारण रूप मान लिया जाय तब भी आपत्ति आएगी क्योंकि, शरीरादि बाह्य पदार्थों का कोई कारण नहीं रह जाएगा और शरीरादि सब पदार्थ सर्वत्र सर्वथा एक साथ उत्पन्न होंगे। जब सभी पदार्थों को कारणाभाव समान रूप में है तब सभी पदार्थ सर्वदा सर्वत्र उत्पन्न होंगे[३८]।

५. शरीरादि को अहेतुक मान लिया जाए तब भी युक्ति विरोध आएगा क्योंकि, जो अहेतुक अर्थात् आकस्मिक होता है। वह अभ्रविकार की तरह सादि नियताकार वाला नहीं होता है[३९]।

इस प्रकार जिनभद्रगणिकृत **विशेषावश्यकभाष्य** (प्रायः ईस्वी ५८५) में स्वभाववाद का निराकरण मिलता है। स्वभाववाद का खंडन भी स्वभाव को एकमात्र कारण मानने से उत्पन्न दोषों के आधार पर किया गया है।

द्वादशारनयचक्र में स्वभाववाद की स्थापना करते हुए कहा गया है कि स्वभाव ही सबका कारण है। पुरुषादि का स्वत्व स्वभाव से ही सिद्ध है और यदि इसको स्वभाव सिद्ध न माना जाए तब स्व को सिद्ध करने के लिए पर का आश्रय लेना पडेगा तब स्व स्व ही न रह पाएगा। यथा घट पट का अनात्म स्वरुप होने से पट नहीं होता उसी तरह पट घट का अनात्म होने के कारण पटात्मक नहीं होता है। अतः स्वभाव को ही एकमात्र कारण मानना चाहिए[४०]।

घट और उसके रूप का युगपद उत्पन्न होना तथा धान या अंकुरादि का क्रमशः उत्पन्न होना आदि परिणमन स्वभाव से ही होते हैं[४१]। यह भी प्रत्यक्ष देखा जाता है कि समान भूमि और पानी आदि सहकारी कारण होने पर भी भिन्न-भिन्न बीज से भिन्न-भिन्न वृक्षादि उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार कण्टकादि में जो तीक्ष्णता है वह फूल में नहीं होती है। मयूर पक्षी आदि में जो विचित्रता, विभिन्नता पाई जाती है वह भी स्वभावतः ही होती है[४२]। कंटक को तीक्ष्ण कौन करता है? मृग और पक्षियों को कौन रंगता है? यह सब स्वभावतः ही होती है। मृग के बच्चे की आँखों में अंजन कौन करता है? मयूर के बच्चे को कौन रंगता है? और कुलवान पुरुष में विनय कौन लाता है? अर्थात् यह सब स्वभाव से ही होता है[४३]। इस प्रकार **नयचक्र** में स्वभाववाद की स्थापना की गयी है।

नयचक्र में स्वभाववाद की स्थापना के अवसर पर विरोधियों के आक्षेपों को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि यदि स्वभाव ही कारण है तब क्यों न ऐसा मान लिया जाए की स्वभाव से ही कण्टक की उत्पत्ति होती है। उसमें भूमि आदि की कोई आवश्यकता नहीं है। कण्टक कण्टक के रूप में ही क्यों उत्पन्न होता है? अन्यथा क्यों नहीं उत्पन्न होता? कण्टक ही क्यों तीक्ष्ण होता है? कुसुम ही क्यों सुकुमार होता है?

उक्त प्रश्नों के उत्तर में कहा गया है कि वस्तु का स्वभाव विशेष ही ऐसा है कि वह उसी प्रकार उत्पन्न होता है। भूमि आदि का स्वभाव है कण्टादिको उत्पन्न करने का जैसे मनुष्य का स्वभाव है कि वह क्रमशः वृद्धि पाता है। वय क्रमशः ही बढ़ती है और दूध में से घी का भी क्रमशः ही बनना वस्तु का स्वभाव है। ऐसा न मानने पर विश्व की व्यवस्था ही नहीं टिक पाएगी। घट बनाना माटी का स्वभाव है अतः उससे घट बनता है किन्तु आकाश से घट नहीं बनता[४४]।

दूसरा आक्षेप यह किया गया है कि घट आदि की उत्पत्ति क्रिया से होती हुई दिखाई देती है तब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी आप ऐसा कैसे कहते हैं कि स्वभाव से ही वस्तु की उत्पत्ति होती है ।

उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि ऐसी बात नहीं है क्योंकि वस्तु की पहले अभिव्यक्ति नहीं होने से ही वस्तु की उत्पत्ति का बोध नहीं होता और आँख का भी स्वभाव है कि वह अतिसूक्ष्मादि पदार्थो को देख नहीं पाती । यथा अंजन और मेरुपर्वत उसी प्रकार पहले अव्यक्त होने के कारण, घटादि की उपस्थिति का बोध नहीं होता है और घट का भी उसी प्रकार का स्वभाव है[५५] । अर्थात् अंजन के होने पर भी अतिसामीप्य के कारण तथा मेरुपर्वत विद्यमान होते हुए भी अतिदूरी के कारण अव्यक्त है । उसी प्रकार घट आदि वस्तुओं की उपस्थिति होने पर भी बोध नहीं होने में वस्तु का अभाव नहीं किन्तु वस्तु का स्वभाव ही कारण है ।

संसार में जो भी कार्य होता है वह स्वभाव से ही प्रवृत्ति और निवृत्ति होता है । स्वभाव से ही फल की प्राप्ति होती है । फल प्राप्ति का स्वभाव होने से ही प्रवृत्ति होती है । अतः पुरुष का प्रयास निरर्थक है ।

द्रव्य का संयोग और विभाग होना स्वभाव है और उसी कारण आत्मा का संसार और मोक्ष भी स्वभावतः ही होता है । जैसे अशुद्ध सोने का शुद्धीकरण दो प्रकार से होता है, क्रिया और अक्रिया से[५६] ।

इस स्वभाववाद की स्थापना की गई है । स्वभाववाद का खण्डन भाववाद के द्वारा किया गया है । स्वभाव शब्द की व्याख्या करके बताया है कि स्व का भाव ही स्वभाव है अर्थात् स्वभाव में भी भाव का महत्व है । भाव के बिना स्वभाव नहीं बनेगा । अतः भाव का होना आवश्यक है । इसी लिए स्वभाववाद की अपेक्षा भाववाद ही श्रेष्ठ है । इस प्रकार स्वभाववाद का भाववाद द्वारा खण्डन किया गया है ।

नियतिवाद :

नियतिवाद का सर्वप्रथम उल्लेख **श्वेताश्वतर** में प्राप्त होता है[५७] । नियतिवाद के विषय में त्रिपिटक[५८] और जैनागम[५९] में यत्र-तत्र विशेष चर्चा की गई है । भगवान बुद्ध जब बौद्ध धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे तभी नियतिवादी भी अपने मत का प्रचार कर रहे थे । इसी प्रकार भगवान महावीर को भी गोशालक आदि नियतिवादियों के सामने संघर्ष करना पड़ा था । आत्मा एवं परलोक को स्वीकार करने के बाद भी नियतिवादी यह मानते थे कि संसार में जो विचित्रता है उसका अन्य कोई कारण नहीं है । सभी घटनाएँ नियतक्रम में घटित होती रहती है । ऐसा नियतिवादियों का मानना था । नियतिचक्र में जीव फँसा हुआ है और इस चक्र को बदलने का सामर्थ्य जीव में नहीं है । नियतिचक्र स्वयं गतिमान् है और वही जीवों को नियत क्रम में यत्र-तत्र ले जाता है । यह चक्र समाप्त होने पर जीवों का स्वतः मोक्ष हो जाता है ।

गोशालक के नियतिवाद का वर्णन "सामञ्ञफल सुत्त" में प्राप्त होता है । यथा प्राणियों की अपवित्रता का कोई कारण नहीं है बिना कारण ही प्राणी अपवित्र होते हैं । उसी तरह प्राणियों की शुद्धता में भी कोई कारण नहीं है । वे अकारण और अहेतुक ही शुद्ध होते हैं। स्व के सामर्थ्य से भी कुछ नहीं होता है । वस्तुतः पुरुष में बल या शक्ति ही नहीं है । सर्व सत्य, सर्व प्राणी, सर्व जीव अवश, दुर्बल और निर्वीर्य हैं । अतः जो कोई यह मानता है कि इस शील, व्रत, तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व करूँगा अथवा परिपक्व हुए कर्मों का भोग करके उसका नाश करूँगा, ऐसी मान्यता समुचित नहीं है । इस संसार में सुख-दुःख परिमित रूप में है अतः उसमें वृद्धि या हानि संभावित नहीं है । संसार में प्रबुद्ध और मूर्ख दोनों का मोक्ष नियत काल में ही होता है । यथा सूत के धागे का गोला क्रमशः ही खुलता है[६०] ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार का वर्णन **उपासकदशांग**[५१] (प्रायः २-३ शती), **व्याख्याप्रज्ञप्ति**[५२] (ईस्वी १-३ शती), और **सूत्रकृतांग**[५३] (ई॰ पू॰ ३-१ शती) में भी प्राप्त होता है ।

जगत् के सभी घटनाक्रम नियत हैं इसलिए उनका कारण नियति को मानना चाहिए । जिस वस्तु को जिस समय, जिस कारण से तथा जिस परिमाण में उत्पन्न होना होता है वह वस्तु उसी समय, उसी कारण से तथा उसी परिमाण में नियत रूप से उत्पन्न होते हैं । ऐसी दशा में नियति के सिद्धान्त का युक्तिपूर्वक खण्डन कौन सा वादी कर सकता है[५४] ।

नियतिवादियों का आधार :

प्रत्येक कार्य किसी नियत कारण से नियत क्रम में तथा नियत काल में ही उत्पन्न होता है । वस्तुतः इस प्रकार रखे जाने पर नियतिवाद, कालवाद, स्वभाववाद का ही संमिश्रित रूप बन जाता है और उत्तरकालीन बौद्ध तार्किकों को हम सचमुच कह पाते हैं कि प्रत्येक वस्तु देशनियत होती है, कालनियत होती है और स्वभावनियत होती है ।

अनुकूल नियति के बिना मूंग भी नहीं पकती, भले ही स्वभाव आदि उपस्थित क्यों न हो, सचमुच मूंग का यह पकना अनियतरूप से तो नहीं होता[५५] । यदि नियति एक ही रूप वाली है तब नियति से उत्पन्न वस्तुएँ भी समान रूप वाली होनी चाहिए, और यदि नियति अनियत रूप वाली होने के कारण परस्पर असमान वस्तुओं को जन्म देने वाली है तब प्रस्तुत वादी को यह मानने के लिए विवश होना पड़ेगा ।

यदि ऐसा न हो तब तो वस्तु अनियत रूप वाली होने के कारण जगत् की सभी वस्तुओं का अभाव ही सिद्ध होता है । दूसरे उस दशा में जगत् की सभी वस्तुएँ एक दूसरे के रूपवाली होने के कारण सभी प्रकार की क्रियायें निष्फल सिद्ध होनी चाहिए[५६] ।

नियत कारण के रहने पर नियत कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए जबकि कभी-कभी इसमें विरोध पाया जाता है । कभी-कभी बहुत प्रयत्न करने पर भी कार्य सफल नहीं होता है, और कभी बिना प्रयास किए ही फल प्राप्त हो जाता है । अतः कारण सादृश्य रहते हुए भी फल में वैसादृश्य अर्थात् वैरूप्य-दोष का परिहार केवल नियति को ही एक मात्र कारक मानने से हो सकता है । दूसरे शब्दों में नियति ही एक मात्र कारण है ।

सभी पदार्थ नियत रूप से ही उत्पन्न होते हैं । पदार्थों के नियत रूप से ही उत्पत्ति मानने के लिए यह मानना आवश्यक है कि सभी पदार्थ किसी ऐसे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं जिससे पदार्थों की नियतरूपता अर्थात् वैसा ही होने और अन्यथा न होने का नियमन होता है । पदार्थों के स्वरूप का निर्धारण करने में ये कारणभूत उस तत्त्व का ही नाम नियति है । अतः घटित होने वाले घटित पदार्थों को नियत मानना आवश्यक है । जैसे यह देखा जाता है कि किसी दुर्घटना के घटित होने पर भी सबकी मृत्यु नहीं होती, अपितु कुछ लोग ही मरते हैं और कुछ लोग जीवित रह जाते हैं । इसकी उपपत्ति के लिए यह मानना आवश्यक है कि प्राणी का जीवन और मरण नियति पर निर्भर है । जिसका मरण जब नियत होता तभी उसकी मृत्यु होती है और जब तक जिसका जीवन शेष होता है तब तक मृत्यु के प्रसंग बार-बार आने पर भी वह जीवित रहता है । उसकी मृत्यु नहीं होती ।

नियति के समर्थन में **नयचक्र** में एक श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को जो भी शुभ-अशुभ नियति द्वारा प्राप्तव्य होता है वह उसे अवश्य प्राप्त होता है क्योंकि जगत् में यह देखा जाता है कि जो वस्तु जिस रूप में घटित होने वाली नहीं होती है वह बहुत प्रयत्न करने पर भी उस रूप में घटित नहीं होती और जो होने वाली होती है वह अन्यथा नहीं हो सकती है[५७] ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नियति का स्वरूप :

नयचक्र में नियति के स्वरूप का चिंतन करते हुए कहा गया है कि नियति जगत् कारण होते हुए भी वह सत्ता से अभिन्न ही है। कोई एक पुरुष में बाल्यादि अवस्थाभेद के विकल्प उत्पन्न होते हैं किन्तु परमार्थ से तो वह पुरुष एक ही है। ऐसे ही नियति भी परमार्थतः एक ही है। तथा जैसे स्थाणु या पुरुष में यह वही स्थाणु या वह वही पुरुष ऐसी प्रतीति का कारण ऊर्ध्वता सामान्य है वैसे ही क्रिया और फल के भेद से नियति में भेद किया जाता है तथापि वह परमार्थतः तो अभेद स्वरूप ही है[५८]।

यह नियति भिन्न द्रव्य, देश, काल और भाव के भेद से तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, आसन्न और अनासन्न भी है[५९]।

नियति काल, स्वभाव आदि नहीं है। काल से ही ऐसी विचित्रता सम्भवित है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि कभी-कभी वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, बसन्त, और ग्रीष्म आदि ऋतु में समयानुसार प्रवर्तित नहीं भी होती है[६०]। कभी-कभी अकाल में भी वर्षादि देखी जाती है अतः काल इस विचित्रता का कारण नहीं हो सकता।

स्वभाव भी जागतिक वैचित्र्य का कारण नहीं हो सकता क्योंकि बालक रूप में होना, युवा रूप में होना ये सभी पुरुष का स्वभाव होने पर भी बाल्यवस्था में युवावस्था प्राप्त नहीं होती। अतः युगपत् सभी अवस्थाओं के अभाव के आधार में अन्य किसी भी तत्त्व को कारण मानना ही पड़ेगा, वही कारण तत्त्व नियति है[६१]।

इस प्रकार **द्वादशारनयचक्र** में नियतिवाद की स्थापना की गई है। नियतिवाद भारतीय दर्शन में खासकर बौद्धदर्शन एवं जैनदर्शन के ग्रंथों में वर्णित है। उक्त दर्शनों के ग्रर्थों में नियतिवाद का वर्णन पूर्वपक्ष के रूप में प्राप्त होता है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में नियतिवाद एक प्रभावपूर्ण सिद्धान्त रहा होगा। क्रमशः नियतिवाद का ह्रास होता गया। अतः पश्चात्कालीन ग्रंथों में नियतिवाद का वर्णन या खंडन भी कम होता गया। **द्वादशारनयचक्र** में नियतिवाद का सिद्धान्त अनेक तार्किक दलीलों के आधार पर स्थापित किया गया है एवं तत्पश्चात् अकाट्य तर्कों के द्वारा उसका खंडन भी किया गया है।

पुरुषवाद :

द्वादशारनयचक्र के द्वितीय अर में विभिन्न कारणवादों की स्थापना एवं आलोचना की गई है। जगत में दृश्यमान विविधता का कारण क्या हो सकता है ? ऐसी जिज्ञासा भारतीय तत्त्वचिंतकों के मन में प्राचीन काल में ही उद्‌भूत हो चुकी थी। प्रस्तुत शंका का समाधान पाने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से प्रयास किया। परिणाम यह हुआ कि जगत् वैचित्र्य की व्याख्या के किसी सर्वमान्य सिद्धान्त के स्थान पर विभिन्न सिद्धान्त अस्तित्व में आए। इन सिद्धांतों के विषय में खंडन-मंडन की परंपरा भी शुरू हुई। इन सिद्धान्तों में एक पुरुषवाद भी है। पुरुषवाद का कथन है कि विश्व की विचित्रता का एक मात्र कारण पुरुष आत्मा-ब्रह्म ही है[६२]।

पुरुषवाद का मूल हमें **ऋग्वेद** के "पुरुषसूक्त" में मिलता है। **ऋग्वेद** के दशम मंडल के इस "पुरुष सूक्त" में कहा गया है कि अकेला पुरुष ही इस समस्त विश्व का जो कुछ भी हुआ है तथा जो आगे भविष्य में होने वाला है उसका आधार है[६३]। **द्वादशारनयचक्र** में इसी मंत्र को उद्धृत करके पुरुषवाद की स्थापना की गई है[६४]। **ऋग्वेद** में प्रस्तुत सूक्त में कहा गया है कि विराट नाम का पुरुष इस ब्रह्मांड के अन्दर और बाहर व्याप्त है[६५]। यह जो दृश्यमान जगत् है वह सब कुछ पुरुष ही है। जो अतीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत् है या जो भविष्यत् जगत् होगा वह भी पुरुष ही है । वह देवताओं का भी स्वामी है । सारा ही जगत् इस विराट पुरुष का सामर्थ्य विशेष ही है ।

सृष्टि एवं प्रलय भी इसी पुरुष के अधीन है । पुरुष सर्वात्मक है । चेतना-चेतना सृष्टि की उत्पत्ति इसी पुरुष से हुई है[६६] । इस प्रकार सर्वप्रथम "पुरुषसूक्त" में पुरुषवाद विषयक दार्शनिक चर्चा प्राप्त होती है । तदनन्तर **श्वेताश्वतर उपनिषद्** में पुरुष को जगत् का कारण मानने वाले सिद्धान्त का उल्लेख मात्र किया गया है[६७] । उपनिषद् में इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाली पंक्तियाँ मिलती है । कहा गया है कि "एक ही देवतत्त्व सर्वभूत में स्थित है अर्थात् विश्व का एकमात्र कारण पुरुष ही है । संसार में पुरुष के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है[६८] । जैसे चन्द्र एक ही है तथापि उसके प्रतिबिम्ब विभिन्न जल पूरित पात्रों में पाए जाते हैं उसी तरह भिन्न-भिन्न देह में भिन्न-भिन्न एक ही आत्मा पायी जाती है ।

द्वादशारनयचक्र में भी "पुरुषसूक्त" के ही मंत्र को उद्धृत करके पुरुषवाद की स्थापना की गई है । पुरुष ही जगत् का एकमात्र कारण है । सर्वजगत् पुरुषमय ही है । पुरुष एक ही अतः सर्व सत्ता एकात्मक ही है[६९] । पुरुष ही जगत् का कर्ता है क्योंकि जो ज्ञानवान् होता है, वही स्वतंत्र होता है और जो स्वतंत्र होता है वही कर्ता होता है । जो अज्ञानी है उसमें स्वातंत्र्य संभवित नहीं है और जिसमें स्वातंत्र्य नहीं होता उसमें कर्ताभाव नहीं होता[७०] ।

नयचक्रवृत्ति में इस सिद्धान्त की पुष्टि में व्याख्याप्रज्ञप्ति की पंक्ति **एकोऽप्यहमनेकोऽप्यहम्** को उद्धृत किया गया है[७१] । उक्त सूत्र में भगवान महावीर कहते हैं — मैं एक भी हूँ और अनेक भी हूँ । इस प्रकार पुरुष की सर्वोपरिता सिद्ध करते हुए पुरुषवाद की स्थापना की गई है ।

पुरुषवाद : आक्षेप और आक्षेप-परिहार :

जो ज्ञाता होता है वही कर्त्ता होता है । ऐसा मानने पर तो दूध से दही और इक्षु रस से गुड़ादि निष्पन्न नहीं होंगे । क्योंकि यहाँ तो ज्ञाता के बिना ही क्रिया निष्पन्न होती है । इसका समाधान करते हुए पुरुषवादी कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ कार्य-प्रवृत्ति पूर्ण नहीं हुई है अतः आपको ऐसा भ्रम होता है कि इसका कोई कर्त्ता नहीं है किन्तु दूध, दही, मक्खन और तत्पश्चात् उससे घी यह सारी कार्य-प्रवृत्ति पुरुष चेतन सत्ता के अधीन ही होती है । जैसे प्रारम्भ में कुम्हार चक्र को घुमाता है किन्तु उसके बाद भी चक्र कुछ समय तक गतिमान रहता है चाहे उस समय कुम्हार चक्र घुमाते हुए नहीं दिखाई देता है फिर भी हम यह अनुमान करते हैं कि इसे कुम्हार ने ही घुमाया है । उसी प्रकार यहाँ भी चाहे प्रकटतः कर्त्ता पुरुष न दिखाई दे, किन्तु उसके मूल में तो वही होता है[७२] ।

यदि आप ऐसा मानते है कि पुरुष ही सबका कारण है तब यह आपत्ति आती है कि पुरुष स्वयं अपनी उत्पत्ति एवं लय में कारण कैसे बन सकता है ? जैसे अंगुली का अग्रभाग अपने अग्रभाग को छू नहीं सकता एवं तलवार अपने आपको छेद नहीं सकती[७३] । इसका समाधान आचार्य मल्लवादि ने **मुण्डकोपनिषद्** की कारिका के आधार पर दिया है कि जैसे मकड़ी अपनी जाल बनाती है और फिर वापस उसी को ग्रहण करती है तथा जैसे वनस्पतियाँ पृथ्वी से उत्पन्न होती है और पृथ्वी में ही विलीन हो जाती है । जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पुरुष से ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है । इस सिद्धान्त में कोई आपत्ति नहीं आती है[७४] ।

पुरुष की काल, प्रकृति, नियति, स्वभाव आदि से एकरूपता :

द्वादशारनयचक्र में शब्दों की व्युत्पत्ति के आधार पर अन्य कालादि तत्त्वों को भी पुरुष रूप ही सिद्ध किया है । जैसे पुरुष ही काल है । क्योंकि **कलनात् कालः** इस व्युत्पत्ति के आधार पर पाणिनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के धातु-पाठ में **कल संख्याने** पाठ मिलता है । तदनुसार कलनं का अर्थ ज्ञान होगा । अतः जो ज्ञानात्मक है वही कर्त्ता होगा और ज्ञानात्मक तो केवल पुरुष ही है । इस प्रकार काल और पुरुष में भेद नहीं है[७५] ।

प्रकरणात् प्रकृतिः अर्थात् जो विस्तार करती है वह प्रकृति है । जैसे सत्त्व, रजस्, तमसात्मक प्रकृति से सृष्टि उत्पन्न होती है उसी प्रकार पुरुष से सृष्टि की उत्पत्ति होती है । अतः पुरुष और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है[७६] ।

रूपादि का नियमन करने वालों को नियति कहते है । पुरुष भी रूपादि का नियमन करता है । अतः पुरुष और नियति अभिन्न है[७७] ।

अपने रूप में होना स्वभाव है । पुरुष भी अपने रूप में अर्थात् स्वरूप में उत्पन्न होता है । अतः स्वभाव भी पुरुष का ही पर्यायवाची शब्द है[७८] ।

पुरुषवाद का खण्डन :

द्वादशारनयचक्र में उक्त पुरुषवाद की मर्यादाओं को प्रदर्शित करने के लिए आचार्य मल्लवादि ने नियतिवाद का उत्थान किया है[७९] । सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया है कि पुरुषवाद में पुरुष ज्ञाता एवं स्वतंत्र है ऐसा माना गया है तब पुरुष को अनर्थ और अनिष्ट का भोग क्यों करना पड़ता है ? क्योंकि जो ज्ञानी है और जो स्वतंत्र है वह विद्वान् राजा की तरह सदा अनिष्ट और अनर्थ से मुक्त रहेगा[८०] । किन्तु व्यवहार में तो पुरुष को अनर्थ एवं अनिष्टों से व्याप्त देखा जाता है । अतः यह संभव नहीं है कि जो ज्ञाता हो, वह स्वतंत्र भी हो ।

यदि आपत्ति की जाय कि निद्रावस्था के कारण स्वतंत्र पुरुष की स्वतंत्रता का भंग होता है उसी प्रकार अनिष्ट और अनर्थ के आगमन का कारण पुरुष की प्रमत्त दशा ही है। किन्तु ऐसा जानने पर भी पुरुष में स्वतंत्रता की हानि ही जाननी पड़ेगी और ऐसी परिस्थिति में पुरुष परतंत्र होने के कारण कर्त्ता नहीं बन सकेगा[८१] ।

यदि ऐसा मान लिया जाए कि पुरुष स्वतंत्र एवं कर्त्ता होने पर भी अकर्त्ता और परतंत्र प्रतीत होता है तब पुरुषवाद का स्वयं लोप होगा क्योंकि जगत् की विचित्रता को सिद्ध करने के लिए पुरुषवाद का आश्रय लिया और पुरुषवाद में उक्त आपत्ति का निराकरण करने के लिए नियतिवाद की परतंत्रता का आश्रय लिया । अतः पुरुषवाद की अपेक्षा नियतिवाद ही श्रेष्ठ हुआ[८२] ।

इस प्रकार पुरुषवाद का भी खण्डन किया गया है । नियतिवाद का वर्णन आगे किया गया है पुरुषाद्वैत की स्थापना करना ही प्रस्तुत वाद का लक्ष्य है । इसकी स्थापना के लिए विभिन्न तर्को एवं आगम प्रमाण का आश्रय लिया है । पुरुषवाद की स्थापना कर देने पर भी उसमें अनेक दोषों का उद्भावन अन्य वाद के द्वारा कराया गया है । इस प्रकार एक अपेक्षा से पुरुषवाद सत्य है तो अन्य अपेक्षा से पुरुषवाद असत्य है । ऐसी स्थापना करके आ॰ मल्लवादी ने अपनी विशिष्ट शैली का परिचय दिया है ।

भाववाद :

सृष्टि के कारक तत्त्व की चर्चा करते हुए **नयचक्र** में काल-स्वभाव-स्थिति-नियति और पुरुष की चर्चा के पश्चात् भाववाद की चर्चा की गई है[८३] । भाववाद की यह चर्चा कारक के प्रसंग में **द्वादशारनयचक्र** की अपनी विशेषता है । यद्यपि **ऋग्वेद** में सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया गया था कि सृष्टि सत् से या भाव से हुई अथवा असत् या अभाव से हुई[८४] ? भाववाद वस्तुतः यह विचारणार्थ है कि जो यह मानता है कि भाव या सत् से ही सृष्टि संभव है या सृष्टि का एक मात्र कारण है । सामान्य रूप से यह प्रश्न सदैव उठ रहा है कि जिसकी कोई सत्ता नहीं है उससे उत्पत्ति कैसे संभव है ? उत्पत्ति का आधार तो कोई भावात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्ता ही होना चाहिए । अभाव से कोई भी सृष्टि संभव नहीं है । किन्तु इसके विरोध में यह भी कहा जाता है कि यदि हम भाव को ही एक मात्र कारण मानते हैं तो फिर नवीनता या सृष्टि का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा । वस्तु भावांग वह विचार सरणी है जो सत्कार्यवाद का समर्थक है । यद्यपि इस आधार पर भाववाद के प्रसंग में वे सभी दूषण दिखाए जाते है जो सत्कार्य वाद के प्रसंग में प्रस्तुत किए जाते हैं । यदि सृष्टि में अथवा उत्पत्ति में कोई नवीनता न हो तो वह सृष्टि या उत्पत्ति ही नहीं कहलाएगी । नियति, स्वभाव आदि भी भाव के अभाव में संभव नहीं होते हैं । भाव शब्द की व्याख्या ही यही है कि जिससे यह होता है "यद् अयं भवति" । और इसमें निहित अयं शब्द ही स्व का सूचक है । अतः स्वभाववाद भी भाववाद पर आश्रित है । वस्तु के सद्भाव में इन भावों का अभाव होता है । अतः स्वभाव का निर्धारण भाव से ही होता है[८५] ।

भाववाद को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य मल्लवादि कहते हैं कि भाव से ही उत्पत्ति होती है । जो अभाव स्वरूप है उससे उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? भवन ही सर्ववस्तु का मूल है । भाव पदार्थ एक ही है । उसमें जो भेद किया जाता है वह उपचरित है, काल्पनिक है । भाव से ही जगत् की उत्पत्ति होती है । अतः जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण भाव ही मानना चाहिए[८६] ।

इस प्रकार भाववाद का स्थापन किया गया है । भाववाद का कथन है कि एक मात्र भाव ही कारण है ऐसा मानने पर मिट्टी में घट उत्पन्न होने का भाव क्यों है ? पट होने का स्वभाव क्यों नहीं है ? भाववादियों के पास इस प्रकार की आपत्ति का कोई उत्तर नहीं है ।

भाव शब्द का अर्थ उत्पन्न होना होता है अर्थात् वस्तु केवल उत्पन्न धर्मा ही होगी, नाश तो वस्तु का धर्म नहीं होगा । अतः नाश की प्रक्रिया जो प्रत्यक्ष सिद्ध है, भाववाद में नहीं घटेगी ।

इस प्रकार कालवाद, पुरुषवाद, नियतिवाद, स्वभाववाद एवं भाववाद के सिद्धान्त का वर्णन प्रस्तुत ग्रंथ में प्राप्त होता है । अद्वैत कारण की चर्चा करते हुए उपरोक्तवादों का निरूपण किया गया है । इस वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में कालादिवाद प्रचलित रहे होंगे किन्तु बाद में वे दर्शन लुप्त हो गए इतना ही नहीं किन्तु तद्तद् वादों की चर्चा एवं खंडन-मंडन भी लुप्त हो गया अतः परवर्ती दार्शनिक ग्रंथों में एतद्विषयक चर्चा प्राप्त नहीं होती है ।

टिप्पणी :

१. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति **चिन्त्या** ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥

श्वेताश्वतरोपनिषत्, १/२.

२. **अथर्ववेद,** पृ. ४०५-४०६.

३. कालादापः समभवन्कालाद्ब्रह्म तपो दिशः । कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥ **अथर्व.** , पृ. ४०६. कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही । द्यौर्मही काल आहिता ॥ वही, पृ. ४०६. कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा । कालादृचः समभवन्यजुः कालादजायत । वही, पृ. ३. कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् । काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ वही, पृ. ४.

४. न कर्मणा लभ्यते न चिन्तया वा नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित् । पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा कालेन सर्वे लभते मनुष्यः ॥- **महाभारत,** "शांतिपर्व," २५/५. न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले। मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थाने कालो हि कार्ये प्रति निर्विशेषः ॥ वही, "शांतिपर्व," २५/६.

५. नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि । तान्येव कालेन समाहितानि सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले ॥ वही, "शांतिपर्व," २५/७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. म॰ ''शां''॰, अ. २५.

७. न कालव्यतिरेकेण गर्भकालशुभादिकम् । यत्किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥-**शास्त्रवार्तासमुच्चय,** स्त॰ २, ५३, पृ॰ ४५.

८. म॰ ''शां''॰, अ. २८, ३२,३३.

९. कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥-**शा॰ वा॰ स॰** स्त॰ २, ५४, पृ॰ ४६. **द्वादशारं नयचक्रम्**, पृ॰२१८, काल एव हि भूतानि कालः संहारसम्भवौ। स्वपन्नपि स जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥-**द्वा॰ न॰** पृ॰ २१९

१०. किञ्च कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते । स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि ततः कालादसौ मता ॥-**शा॰ वा॰ स॰** स्त॰ २, ५५, पृ॰ ४६.

११. कालाभावे च गर्भादि सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेष्ट हेतु सद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ॥ वही, स्त. २, ५६, पृ॰ ४६.

१२. **वैशेषिकदर्शन,** २.२.६.

१३. **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र,** ५/२२.

१४. युगपदयुगपन्नियतार्थवृत्तेः काल एव भवतीति भावितं भवति । इह युगपदवस्थायिनो घटरूपादयो न केचिदपि वस्तुप्रविभक्तितो युगपद्वृत्तिप्रख्यानात्मकं कालमन्तरेण । **द्वा॰ न॰** पृ॰ २०५.

१५. अतो धर्मार्थकाममोक्षाः कालकृता उक्तभावनावत् । तथा ब्राह्मणस्य वसन्तेऽग्न्याधानम्, वणिजां मद्यस्य, ईश्वराणां क्रीडादीनाम्, निष्क्रमणं कृत्वा यावद्विमोक्षं विमोक्षणस्य कालो यतीनाम् । **द्वा॰ न॰** पृ॰ २१०.

१६. वही, पृ॰ २११-२१८.

१७. कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥
द्वा॰ न॰ पृ॰ २१८.

१८. काल एव हि भूतानि कालः संहारसंभवौ । स्वपन्नपि स जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ वही, पृ॰ २१९.

१९. ननु तैः सर्वैः 'स्वभाव एव भवति' इति भाव्यते । वही, पृ॰ २१९.

२०. कालस्यैव तत्त्वात् कारणकार्यविभागाभावात् सामान्य-विशेषव्यवहाराभाव एवेति चेत, एवमपि स एव स्वभावः । पूर्वादिव्यवहारलब्धकालाभावश्चैवम्, अपूर्वादित्वात् नियतिवत् । युगपदयुगपद् घटरुपादीनां व्रीह्यङ्कुरादीनां च तथा तथा भवनादेव तु स्वभावोऽभ्युपगतः । वही, पृ॰ २२१-२२२.

२१. वही, पृ॰ २२१-२२२.

२२. वही, पृ॰ २२१-२२२.

२३. वही, पृ॰ २२१-२२२.

२४. कालोऽपि समयादिर्यत् केवलः सोऽपि कारणम् ।
तत एव ह्यसंभूतेः कस्यचिन्नोपपद्यते ॥
शा॰ वा॰ स॰ स्तबक २, ७७.

२५. यतश्च काले तुल्येऽपि सर्वत्रैव न तत्फलम् । अतो हेत्वन्तरापेक्षं विज्ञेयं तद् विचक्षणैः ॥
वही, स्तबक-२, ७८. पृ॰ ५२.

२६. स्वभावः प्रकृतिरशेषस्य । **द्वा॰ न॰** पृ॰ २२०.

२७. **श्वेता॰,** १.२.

२८. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥ **बुद्धचरित.** ५२

२९. **षड्दर्शनसमुच्चय** पृ॰ २०.

३०. **गोम्मटसार,** कर्मकाण्ड. श्लो॰ ८८३.

३१. म॰ ''शां''॰, २५.१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३२. **गीता**, ५.१४.

३३. **माठरवृत्ति**, का॰ ६१, **न्यायकुसुमांजलि**, १.५, **सांख्यवृत्ति**, का॰ ६१.

३४. न स्वभावातिरेकेण गर्भबालशुभादिकम् । यत्किञ्चिज्जायते लोके तदसौ कारणं किल ॥ सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावे तथा तथा । वर्तन्ते निवर्तन्ते कामचारपराङ्मुखाः ॥ न विनेह स्वभावेन मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते । तथाकालादिभावेऽपि, नाश्वमाषस्य सा यतः ॥

अतत्स्वभावात् तद्भावेऽतिप्रसंगोऽनिवारितः ।

तुल्ये तत्र मृदः कुम्भो न पटादीत्ययुक्तिमत् ॥

शा॰ वा॰ स॰ स्तबक.२, ५७-६०.

३५. होज्ज सभावो वत्थुं निक्कारणया व वत्थुधम्मो वा ।

जउ वत्थुं णत्थि तओऽणुवलद्धीओ खपुप्फं व ॥

विशेषावश्यक भाष्य गा॰ १९१३

३६. मुत्तो अमुत्तो व तओ जइ मुत्तो तोऽभिहाणओ भिन्नो ।

कम्म त्ति सहावो त्ति य जइ वाऽमुत्तो न कत्ता तो ॥

वही, गा॰ १९१६.

३७. वही, गा॰ १९१६.

३८. अह सो निक्कारणया तो खरसिंगादओ होंतु । वही, गा॰ १९१७.

३९. सो मुत्तोऽमुत्तो वा जइ मुत्तो तो न सव्वहा सरिसो ।

परिणामओ पयं पिव न देहहेअ जइ अमुत्तो ॥

उवगरणाभावाओ न य हवइ सुहम्म । सो अमुत्तो वि ।

कज्जस्स मुत्तिमत्ता सुहसंवित्तादिओ चेव ॥ वही, गाथा १७८९-९०.

४०. तैः सर्वैः 'स्वभाव एव भवति' इति भाव्यते । यत् पुरुषादयो भवन्ति स तेषां भावः, तैर्भूयते यथास्वम् । तथा च स्वभावे सर्वस्वभवनात्मनि भवति सिद्धेऽर्थान्तरनिरपेक्षे के ते ? तेषामपि हि स्वत्वं स्वभावापादितमेव, अन्यथा ते त एव न स्युरनात्मत्वाद् घटपटवत् । एवमेव तत्र तत्र पुरुषादिस्वभावानतिक्रमात् सर्वैकत्वमभिन्न् तद्भाववस्त्वादेव वर्ण्य इति स्वभावः प्रकृतिरशेषस्य । **द्वा॰ न॰** पृ॰ २१९-२२०.

४१. युगपदयुगपद् घटरूपादीनां व्रीह्यङ्कुरादीनां च तथा तथा भवनादेव तु स्वभावोऽभ्युपगतः । वही, पृ॰ २२२.

४२. तथा च दृश्यते तेष्वेव तुल्येषु भूम्यम्ब्वादिषु भिन्नात्मभावं प्रत्यक्षत एव कण्टकादि । तदेव तीक्ष्णादिभूतम्, न पुष्पादि तादृग्गुणम् । तच्च वृक्षादीनामेव । तथा मयूराण्डक....मयूरादिबर्हाण्येव विचित्राणि । वही, पृ॰ २२२.

४३. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च ।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥

केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां, को वा करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरन् ।

कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति को वा करोति विनयं कुलजेषु पुंसु । वही, पृ॰ २२२.

४४. **द्वा॰ न॰** पृ॰ २२२-२२४.

४५. वही, पृ॰ २२४-२२५.

४६. वही, पृ॰ २२७.

४७. **श्वेता॰**, १.२.

४८. दीघनिकाय-सामञ्जफलसुत्त

४९. **व्याख्याप्रज्ञप्ति उपासकदशांग, सूत्रकृतांग.**

५०. **बु॰ च॰**, पृ॰ १७१.

५१. **उपासकदशांग**, अ.-७.

५२. **व्याख्याप्रज्ञप्ति** शतक-१५-.

५३. **सूत्रकृतांगसूत्र**, २-१-१२, २-६

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

५४. नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत् ।
तती नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः ॥

शा॰ वा॰ स॰ स्त॰२, ६१.

यद्यदैव यतो यावत्तत्तदैव ततस्तथा ।
नियत जायते, न्यायात्क एतां बाधितुं क्षमः ? वही, ६२.

५५. न चर्ते नियतिं लोके मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
तत्स्वभावादिभावेऽपि नासावनियता यतः ॥ वही, ६३

५६. अन्यथाऽनियतत्वेन सर्वभावः प्रसज्यते ।
अन्योन्यात्मकतापत्तेः क्रियावैफल्यमेव च ॥

शा॰ वा॰ स॰ स्त॰ २, ६४.

५७. प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥

द्वा॰ न॰ पृ॰ १९४.

५८. परमार्थतोऽभेदासौ कारणं जगतः, भेदवद्बुद्ध्युत्पत्तावपि परमार्थतोऽभेदात्, बालादिभेदपुरुषवत् । कथम् ? अभेदबुद्ध्याभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानाद् भेदबुद्ध्याभासभावेऽप्यभेदाभ्यनुज्ञानादेव व्यवच्छिन्नस्थाणुपुरुषत्वत् । वही, पृ. १९५

५९. सा च तदतदासन्नानासन्ना, तस्या एव तदतदासन्नानासन्नानानावस्थद्रव्यदेशादिप्रतिबद्धभेदात्, मेघगर्भवत् । वही, पृ॰ १९६.

६०. न कालादयं विचित्रो नियमः, वर्षारात्रादिष्वपि क्वचिदयथर्तुप्रवृत्तेः ।
द्वा॰ न॰ पृ॰ १९६.

६१. न च स्वभावात्, बाल्यकौमारयौवनस्थविरावस्थाः सर्वस्वभावत्वाद् युगपत् स्युः, भेदक्रमनियतावस्थोत्पत्त्यादिदर्शनान्न स्वभावः कारणम् । वही, पृ॰ १९६

६२. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ **द्वा॰ न॰** पृ॰ १८९.

६३. **ऋक्सूक्तसंग्रह,** पुरुषसूक्त, संहिता-पाठ, २ पृ॰ १४१.

६४. **द्वा॰ न॰** पृ॰ १८९.

६५. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
-**ऋ॰ सू॰ सं॰** "पुरुषसूक्त," संहिता, पाठ-१, पृ॰ १४०.

६६. वही, पृ॰ १४०.

६७. **श्वेता॰,** १.२

६८. **उपनिषत्संग्रह, मुण्डकोपनिषत्,** पृ॰ १७.

६९. **द्वा॰ न॰** पृ॰ १८९.

७०. तद्यथा-पुरुषो हि ज्ञाता ज्ञानमयत्वात् । तन्मयं चेदं सर्वं तदेकत्वात् सर्वैकत्वाच्च भवतीति भावः । को भवति ? यः कर्ता । कः कर्ता ? यः स्वतन्त्रः । कः स्वतन्त्रः ? कोज्ञः ।
– वही, पृ॰ १७५.

७१. **व्या॰ प्र॰,** १८-१०-६४७ उद्धृत वही, पृ॰ १८९.

७२. ननु क्षीररसादि दध्यादेः कर्तृ, न च तज्ज्ञम्, न, तत्प्रवृत्तिशेषत्वाद् गोप्रवृत्तिशेषक्षीरदधित्ववत्, ज्ञशेषत्वाद्वा चक्रभ्रान्तन्तिवत् ।
द्वा॰ न॰ पृ॰ १७५.

७३. वही, मूल एवं टीका, पृ॰ १९०.

७४. तन्त्रवायककोशकारककीटवच्च तदात्मका एवैते संहारविसर्गबन्धमोक्षाः । यथा च सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगा भवन्ति... । वही, पृ॰ १९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णीते च यथा पृथिव्यामौषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषात् केशलोमानीति वा, यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गा भवन्ति तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् [मुण्डकोप.] **मुण्डकोप.** इति । वही, पृ. १९१.

७५. स एव कलनात् कालः । **द्वा. न.** पृ. १९१

स एव ज्ञत्वात् कलनात् कालः, कल संख्याने [पा.धा. ४९७. १८६६], कलनं ज्ञानं संख्यानमित्यर्थः । वही, पृ. १९१.

७६. प्रकरणात् प्रकृतिः । वही, पृ. १९१

सत्त्वरजस्तमःस्वतत्त्वान्, प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थान् गुणानात्मस्वतत्त्व विकल्पानेव भोक्ता प्रकुरुते इति प्रकृतिः यथाहुरेके अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

श्वेतश्व., ४.१.५५, वही, पृ. १९१.

७७. रूपणादिनियमनान्नियतिः । वही, पृ. १९१.

७८. स्वेन रूपेण भवनात् स्वभावः । वही, पृ. १९१.

७९. वही, पृ. २४६-२६१

८०. स यदि ज्ञः स्वतंत्रश्च, नात्मनोऽनर्थमनिष्टमापादयेद् विद्वद्राजवत् । वही, पृ. १९३.

८१. न, निद्रावदवस्थावृतेः पुरुषताया एवास्वातन्त्र्यात्, आहितवेगवितटपातवत् । वही, पृ. १९३.

८२. ननु तज्ज्ञत्वाद्ययुक्ततैवैषा समर्थ्यते, युक्तत्वाभिमतत्वेऽपि चायमेव नियमः कर्त्रन्तरत्वापादनाय । भवति कर्ता...अचेतनोऽपि भवति । तन्नियमकारिणाा कारणेनावश्यं भवितव्यं तेषां तथा भावान्यथाभावाभावादिति नियतिरेवैका कर्त्री । वही, पृ. १९३-१९४.

८३. वही, पृ. २३१-२४३.

८४. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । **ऋग्वेद,** "नासदीयसूक्त," १०.१२९, ६.

८५. **द्वा. न.** पृ. २३१-२३४.

८६. तच्च प्रत्यवस्तमितनिरवशेषविशेषणं भवनं सर्ववस्तुगर्भः सर्वबिम्बसामान्यमभित्रं बीजम् । वही, पृ. २३४.

सन्दर्भग्रंथसूचि :

१. **अथर्ववेद संहिता,** हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर, रोहतक, प्रथम, विक्रम संवत २०४३, (ईस्वी १९८७).

२. **उपनिषत्संग्रह, मुण्डकोपनिषत्,** प्रथम संस्करण, संपा. पंडित जगदीश शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७०, पृ. १७.

३. **उपासकदशांग,** अ. ७, संपा. मुनि मिश्रीमल महाराज 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८०.

४. **ऋक्सूक्तसंग्रह,** "पुरुषसूक्त," संहिता-पाठ, २, प्रथम संस्करण हिन्दी व्याख्या-प्रो. हरिदत्त शास्त्री, रतिराम शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ १९५६, पृ. १४१.

५. **ऋग्वेद,** "नासदीयसूक्त" १०.१२१, ६. हरियाणा साहित्य संस्थान, रोहतक हरियाणा, वि. सं. २०४१, (ईस्वी १९८५).

६. **गीतारहस्य** कर्मयोगशास्त्र ५.१४, सप्तम आवृत्ति, बाल गंगाधर तिलक, रामचन्द्र बलवंत तिलक, नारायण पेठ, पुणे १९३३.

७. **गोम्मटसार,** "कर्मकाण्ड." द्वितीय आवृत्ति, अनु. स्व. पं. मनोहरलाल शास्त्री, श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई १९२८, श्लो. ८८३.

८. **तत्त्वार्थसूत्र**, वि. फूलचन्द्र शास्त्री, द्वितीय आवृत्ति, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन शोध संस्थान, वाराणसी १९९१.

९. **दीघनिकाय**, "सामञ्जफलसुत्त," भिक्खू जगदीश कश्यप, बिहार राजकीय पालिप्रकाशन मंडल, नालन्दा १९५८.

१०. **द्वादशारं नयचक्रम्,** संपा. आचार्य श्रीमद् विजय लब्धिसूरि, श्री लब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, छाणी, बड़ोदरा, विक्रम संवत २०१६.

११. **बुद्धचरित,** धर्मानन्द कोसम्बी, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदाबाद १९३७.

१२. **भगवती, उपासकदशांग, सूत्रकृतांग** संपा. मुनि मिश्रीमल महाराज 'मधुकर', श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. **भगवतीसूत्र,** शतक-१५ श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८०.

१४. **महाभारत,** "शांतिपर्व," गीताप्रेस, गोरखपुर, पंचम, संवत २०४५, (ईस्वी १९९९).

१५. **माठरवृत्ति,** का॰ ६१, **न्यायकुसुमांजलि** १.५., **सांख्यवृत्ति,** का॰ ६१. चौखम्बा संस्कृत सीरिझ, काशी.

१६. **मुण्डकोपनिषत्,** प्रथम संस्करण, पृ॰ १९१ मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९७०.

१७. **विशेषावश्यकभाष्य॰** गा॰ १९१३ अनु॰ चुनीलाल हकुमचंद, अहमदाबाद, आगमोद्धारक समिति, बम्बई वी.स॰ २४५३, (ईस्वी १९२६).

१८. **वैशेषिक दर्शन,** श्रीमदनन्तलाल देव शर्मा, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा १९५७.

१९. **सूत्रकृतांगसूत्र,** २/१/१२,२/६ श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८०.

२०. **शास्त्रवार्त्तासमुच्चय,** श्रीहरिभद्र सूरि, श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, प्रथम आवृत्ति, अहमदाबाद १९३९.

२१. **श्वेताश्वतरोपनिषत्,** हरिनारायण आप्टे, आनन्द आश्रम मुद्रणालय, पूणे १९०५.

२२. **षड्दर्शनसमुच्चय,** संपा॰ डॉ॰ महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नयी दिल्ली १९७०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org